उपसंहार

कृषि के साक्ष्य हमें सिंधु सभ्यता से ही प्राप्त होते हैं। आदिम-युग से आज हम आधुनिक काल में, उसमें भी इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं। इस दौरान भारतीय कृषि, कृषक एवं खेतिहर मजदूरों ने काफी उतार-चढ़ाव का सामना किया। प्राचीनकाल में मानव को जैसे ही अन्न के दानों की पहचान हुई उसने उनसे नए बीज उगाने की प्रक्रिया को जन्म दिया। प्राचीनकाल में मनुष्य अपनी जिज्ञासा की शांति और अपनी आवश्कताओं की पूर्ति के लिए कृषि-क्षेत्र में नए-नए प्रयोग करने पर बल देता रहा। इस प्रक्रिया में उसने कृषि संबंधी कई तरह के औजार, बीज और सिंचाई जैसे साधनों को खोजने का कार्य किया। मध्यकाल में भूमि व्यवस्था और कृषि को विकसित किया गया।

औपनिवेशिक काल का कृषि-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी काल के दौरान कृषि को पूर्णरूप से व्यवसाय के रूप में अपनाया जाने लगा। इसका श्रेय अंग्रेजी शासन को ही जाता है। इस काल में कृषि क्षेत्र में नई-नई तकनीकि एवं पैदावार को बढ़ाने पर बल दिया गया। अंग्रेजों ने अपने मुनाफे के उद्देश्य से भारतीय कृषि में कपास, नील आदि फसलों की पैदावार बढ़ाने पर जोर दिया। जिससे किसानों को कृषि करने में और भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कर वसूली के उद्देश्य से कई तरह के कानून लागू किए गए। इसी काल के दौरान देश में कृषकों पर कई तरह की पाबंदियां लगाई गईं। इक्कीसवीं सदी में जो किसानों एवं खेतिहर मजदूरों की समस्याएं हैं, दरअसल वे औपनिवेशिक काल का ही अनुसरण करती नजर आ रही हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे देश के नेताओं ने उनका स्थान ले लिया।

कृषि जो प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज का अंग बन गई थी, उसमें इक्कीसवीं सदी तक भी बहुत अधिक बदलाव नहीं दिखाई देता है। 'किसान' के नाम के जन्म के साथ ही उनके साथ कई तरह

की समस्याएं भी जुड़ गई थीं। किसानों का विभिन्न श्रेणियों में विभाजन हुआ। अलग-अलग श्रेणियों की अलग-अलग समस्याएं भी हैं। भूस्वामी, लघु, सीमांत, महिला किसान आदि की परिस्थितियां कई मामलों में एक-दूसरे से भिन्न हैं।

किसानों की कई समस्याएं जो कृषक समाज के शुरूआत दौर में थीं, आज भी व्याप्त हैं। इनकी स्थिति में सुधार के लिए सरकार द्वारा कई तरह की नीतियाँ बनाई जाती हैं। इन नीतियों के सुचारू रूप से लागू न हो पाने के कारण ही किसान एवं खेतिहर मजदूरों को उनका लाभ नहीं मिल पाता है। कृषि क्रांतियों की बात की जाए तो हरित-क्रांति को छोड़कर बाकी क्रांतियों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। इसका खामियाजा यह हुआ कि देश के कतिपय राज्य जैसे पंजाब और हरियाणा को छोड़कर अन्य किसी को भी कृषि क्रांतियों का लाभ नहीं मिल सका। क्योंकि अलग-अलग राज्य अपने विशेष पैदावार की दृष्टि से ही महत्त्व रखते हैं। कृषि-क्रांति के फलस्वरूप गेहूं और धान के अतिरिक्त अन्य किसी फसल की पैदावार में अपेक्षापूर्ण वृद्धि नहीं हुई। इसी कारण अन्य राज्यों के किसानों की स्थिति कुछ ज्यादा बेहतर नहीं हुई। मध्यकाल में लगभग 1419 में ही किसान एवं खेतिहर मजदूरों के मस्तिष्क में व्यवस्था के खिलाफ जो विद्रोह के बीज पनपे, वर्तमान में भी हमें देखने को मिलते हैं। इसी कारण समय-समय पर कृषकों और खेतिहर मजदूरों का प्रतिरोध आंदोलनों के रूप में हमारे सामने आता है।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। हिंदी कथा-साहित्य इसका जीवंत प्रमाण है। कथा साहित्य विशेषकर उपन्यास साहित्य की बात करें तो किसान एवं खेतिहर मजदूर अनेक उपन्यासों की कथावस्तु का आधार बने। वैसे तो किसानों की समस्याओं पर हिंदी भाषा में उपन्यासों की रचना भारतेंदु काल से ही शुरू हो गई थी। यह परंपरा भारतेंदु युग में बालकृष्ण भट्ट के 'गुप्त बैरी' से प्रारंभ होकर लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'हिंदू गृहस्थ' पर आकर शिथिल पड़ जाती है। क्योंकि इस दौर के विभिन्न उपन्यासकारों ने किसान-जीवन को आधार बनाकर जिन उपन्यासों की रचना की थी, वे उपन्यास समाज को कृषक-समाज से परिचय कराने का ही माध्यम बन सके।

किसानों की वास्तविक स्थिति एवं उनका यथार्थ वर्णन हमें प्रेमचंद के यहाँ ही देखने को मिलता है। प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' को इस दिशा में प्रस्थान बिंदु की तरह लिया जा सकता है तथा 'गोदान' तक आकर प्रेमचंद अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँचते हैं। यहां से उनकी परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य जयशंकर प्रसाद, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन, रेणु, विवेकीराय आदि ने किया। इसी क्रम में इक्कीसवीं सदी में भीमसेन त्यागी, जयनंदन, राजू शर्मा, संजीव, सुनील चतुर्वेदी, राजकुमार राकेश, पंकज सुबीर, मिथिलेश्वेर जैसे रचनाकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से उसी परंपरा को जीवित बनाए रखने का कार्य किया है। इन्होंने इक्कीसवीं सदी में समाज में व्याप्त समस्याओं को अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया है और समाज को किसानों से जोड़े रखने का कार्य किया है।

इक्कीसवीं सदी में जो भी उपन्यास किसान-जीवन को आधार बनाकर लिखे गए हैं। उनमें भारतीय समाज की भी वास्तविक छाप दिखाई पड़ती है। इक्कीसवीं सदी की समस्याएं ही ऐसी हैं कि आज का किसान उनके सामने घुटने टेक देता है। वह होरी की तरह संघर्ष कर पाने में असमर्थ हो गया है। भूमंडलीकरण, बाजारवाद, पूंजीवाद आदि के बढ़ते प्रभाव ने कृषि को सीधे बाजार से जोड़ दिया है। किसानों की श्रेणियों में लघु एवं सीमांत किसान जो संख्या में सबसे अधिक हैं, उनमें आज की कृषि नीतियां अपनाने एवं उनसे लाभ लेने की शक्ति नहीं बची है।

किसान महंगे बीज, खाद, कीटनाशक एवं सिंचाई जैसी मूलभूत आवश्कताओं को भी नहीं पूरा कर पा रहा है। फसल उगाने से लेकर बेचने तक उसे कई परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। सरकार की योजनाएं जो किसानों के सामने लुभावने रूप में आती हैं और उनके प्राण लेकर ही जाती हैं। कर्ज का जाल ही किसानों के लिए मौत का फंदा साबित हो रहा है। उपन्यासों में ऐसा कई बार दिखाई देता है कि किसान व्यवस्था एवं अपनी समस्याओं से लड़ने के लिए डटा है। किंतु वर्तमान शासन-प्रणाली को उसका ऐसा करना नागवार लगा। वह किसानों के लिए ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर देती है कि वह हार जाए।

किसानों की समस्याओं को दूर करने की बजाय उन्हें कर्ज लेने के लिए प्रेरित किया जाता है। कर्ज आज किसान के लिए बैसाखी बन गई है।

वर्तमान कृषि प्रणाली एवं कृषक समाज पूरी तरह से सामंती और जमींदारी प्रथा से मुक्त नहीं हो पाया है। प्रथाएं तो समाप्त कर दी गईं, किंतु कृषक समाज आज भी उनके दुष्परिणामों को भुगत रहा है। इनके अतिरिक्त प्राकृतिक प्रकोप उसकी स्थिति को और भी बदतर बना देती हैं। आज का किसान अपने आस-पास शोषण तंत्र को पहचान गया है और उसके खिलाफ आवाज भी उठा रहा है। कुल मिलाकर उसने अपने भले-बुरे की पहचान करना सीख लिया है।

खेतिहर मजदूर, जिन्हें किसानों की श्रेणियों में सबसे निम्न स्तर पर रखा गया है, की मूल समस्या भूमि की समस्या है। भूमि न होने के कारण ही ये समाज में भूस्वामी एवं सरकारी तंत्र के शोषण का शिकार होते हैं। परिश्रम और मजदूरी यही इनका जीवन है। अपना श्रम बेचकर ही ये जीवनयापन करते हैं। हमारे देश की व्यवस्था ऐसी है कि इन्हें इसमें भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जैसा कि विदित है खेती-किसानी का काम मौसम पर निर्भर होता है। इसलिए खेतिहर-मजदूरों को वर्ष भर काम नहीं मिल पाता है। चूंकि मजदूरी पर ही इनका जीवन टिका होता है इसलिए ये उसी की खोज में दर-दर की ठोकर खाते फिरते हैं। अधिक काम के बदले इन्हें कम मजदूरी दी जाती है। सरकार मजदूरों को रोजगार देने के उद्देश्य से जो योजनाएं चलाती है, वह भी बिचौलियों की भेंट चढ़ जाती हैं। न्यूनतम मजदूरी जैसी योजनाओं का सफल न होना भी इनकी समस्या का कारण है।

वैसे देखा जाए तो किसान एवं मजदूर दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। किंतु तुलना की दृष्टि से देखें तो इनकी समस्याएं अलग-अलग हैं। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना करना भी कठिन ही है। खेती-किसानी से जुड़े हर काम को ये दोनों मिलकर करते हैं। बदलते सामाजिक परिवेश ने दोनों के बीच एक खाई बना दी है। आज की परिस्थितियों में किसान ही खेतिहर-मजदूरों का शोषण करने पर मजबूर

हो जाते हैं। उन्हें काम के बदले कम मजदूरी देते हैं। प्राकृतिक आपदा से या और भी किसी कारण से फसल में नुकसान के चलते खेतिहर मजदूरों को मजदूरी ही नहीं दी जाती।

किसान तो जमीन का मालिक होता है। किन्हीं भी परिस्थितियों में वह अपने पेट भरने के लिए अन्न तो जुटा लेता है, किंतु खेतिहर मजदूर के पास अपने श्रम को छोड़कर कोई भी ऐसा साधन नहीं होता, जिसके सहारे वह जीवनयापन कर सके। किसान अपनी खेती से जुड़ी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संघर्ष करता है तो खेतिहर मजदूर अपने काम के लिए संघर्ष करता है। खेती-किसानी में घाटा होने पर भी किसान का कृषि से जुड़ा रहना एक मजबूरी होती है। उसका भूमि-प्रेम और एक तरह से अपनी पुश्तैनी संपत्ति को छोड़कर अन्य कार्य अपनाना उसके लिए मुश्किल भरा काम होता है। इसी कारण वह कृषि से जुड़ा रहता है।

खेतिहर मजदूर के पास उसके श्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है। उसे यदि गाँव में काम नहीं मिलता है, तो वह उस स्थान को छोड़कर मजदूरी की तलाश में अन्य स्थान पर चला जाता है। खेती-किसानी के प्रति सरकार के उपेक्षापूर्ण रवैये के कारण ही किसान और खेतिहर मजदूर पलायन करने पर मजबूर हैं। इनकी समस्याएं कम होने का नाम ही नहीं लेती हैं। शासन तंत्र का उदासीन रवैया ही किसानों की आत्महत्या का कारण बनता है। उपन्यासों में कई स्थानों पर ऐसा होता है जब किसान और खेतिहर मजदूर अपने समाज से पलायन नहीं करना चाहते हैं। फिर भी उन्हें अपना घरबार छोड़कर जाना पड़ता है।

इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकारों की भी अपनी कुछ सीमाएं रही हैं। उपन्यासों का अध्ययन करते समय यह देखने को मिलता है कि उपन्यासकारों ने कृषक समाज में व्याप्त किसानों की समस्याओं को समग्र रूप में अभिव्यक्त करने में रुचि नहीं दिखाई है। उन्होंने किसानों की लगभग एक ही तरह की समस्याओं को अपने उपन्यासों में जगह दी है। कृषि नीतियाँ, प्राकृतिक आपदा, भ्रष्टाचार, शोषण जैसी समस्याएं ही अधिकांश उपन्यासकारों की रचनाओं में मिलती हैं। किसानों की समस्याओं पर बात करते

समय उन्होंने खेतिहर-मजदूरों पर उतनी भी चर्चा करना उचित नहीं समझा। इस कारण से उपन्यासों में खेतिहर मजदूरों की समस्याओं को पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया। किसान आंदोलन, कृषि क्रांतियों आदि पर भी कम चर्चा की गई है। इसी प्रकार यदि हम किसान एवं खेतिहर मजदूरों के अंतर्संबंध की बात करें तो ये कई रूप में हमारे सामने आते हैं। एक किसान जिसके पास उसकी जमीन होती है, वह उसी के सहारे अपना जीवनयापन करता है अर्थात उसके पास जीवन जीने के लिए जमीन का सहारा होता है। किंतु खेतिहर मजदूर का जीवन निराधार होता है उसके पास ऐसा कुछ नहीं होता है जिसके सहारे वह जीवनयापन कर सके उसका श्रम ही उसकी कुल पूंजी होती है।

किसान एवं खेतिहर मजदूर दोनों ही कृषि समाज का अभिन्न अंग हैं दोनों के सहयोग से ही कृषि व्यवस्था सुचारू रूप से चल पाती है। फिर भी कभी-कभी किसान के पास उसकी भूमि होने का अहम उन्हें खेतिहर मजदूरों का शोषण करने के लिए प्रेरित करता है। उपन्यास में हमें यह बात देखने को मिलती है कि किस प्रकार बड़े किसान या भू-स्वामी खेतिहर मजदूरों पर अत्याचार करते हैं। दूसरी तरफ कुछ किसान खेतिहर मजदूरों को अपने घर के सदस्य की तरह रखते हैं उनके सुख-दुःख में उनका साथ देते हैं। उनके लिए खेतिहर मजदूर सिर्फ काम करने की मशीन न होकर एक जीता-जागता इंसान है। खेतिहर मजदूर जिसका कोई एक ठिकाना नहीं होता है वह जहाँ कहीं भी जाता है वहीं के कृषक समाज के जीवन को अपना बना लेता है। वह किसानों के घर और खेत की देखभाल इस तरह से करता है जैसे कि वह स्वयं उसी के खेत हों। प्राकृतिक आपदा या अन्य किसी भी कारण से जब किसान की फसल नष्ट हो जाती है तो वह किसान के दुःख को अपना मानते हुए उनसे मजदूरी तक नहीं मांगते हैं। इस प्रकार हमारे सामने यह बात आती है कि भले ही किसान एवं खेतिहर मजदूर के कार्य एक दूसरे से भिन्न हों किंतु उपन्यास में ऐसी कई परिस्थितियां सामने आती हैं जब किसान और खेतिहर मजदूर हमें एक दूसरे से जुड़े हुए दिखाई देते हैं।